शोध मंथन ISSN: (P): 0976-5255 (e): 2454-339X Impact Factor 6.726 (SJIF)
Vol. X, No.IV, pp (1063-1069) Oct.- Dec. 2019

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक –धार्मिक सुधार आन्दोलन और राष्ट्रवादः ऐतिहासिक संदर्भ

डॉ. संजय कुमार पन्त

एसो0 प्रोफे0एवं विभागाध्यक्ष इतिहास विभाग,
के0जी0के0महाविद्यालय, मुरादाबाद,उत्तर प्रदेश।
Email: pantsk13@gmail.com

सारांश

भारत में आधुनिक अर्थो में राष्ट्रवाद की संकल्पना आधुनिक राज्य के उदय के पूर्व सोची भी नहीं जा सकती । भारतीय राष्ट्रवाद का उत्थान और विकास राजनीतिक परम्परा के साथ दिखाई देता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी और कालान्तर में ब्रिटिश सत्ता की शोषणात्मक व्यवस्था से और उस शोषण के हालात के अन्तर्गत भारतीय समाज के भीतर उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक शक्तियों तथा भारतीय समाज के सामाजिक अन्तर्विरोधों ने राष्ट्रवाद के विकास को गति प्रदान की। यह ठीक है कि अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य ब्रिटिश प्रशासन और व्यापारिक फर्मो में लिपिकों की आवश्यकता, भारतीयो के एक ऐसे वर्ग का निर्माण करके करना था, जो कि रक्त और रंग में भारतीय किन्तु बृद्वि भावनाओं और आचार–विचार में अंग्रेज हों। अग्रेजी के प्रचार प्रसार ने सांस्कृतिक आदान प्रदान के जिस स्वरूप को तैयार किया उसी वजह से ट्रेवेलियन ने यूरोप के एशिया को सभ्यता के पुराने ऋण का भुगतान करने तक की बात कह डाली।

प्रस्तावना

भारत में आधुनिक अर्थो में राष्ट्रवाद की संकल्पना आधुनिक राज्य के उदय के पूर्व सोची भी नहीं जा सकती[1] भारतीय राष्ट्रवाद का उत्थान और विकास राजनीतिक परम्परा के साथ दिखाई देता है।[2] ईस्ट इंडिया कम्पनी और कालान्तर में ब्रिटिश सत्ता की शोषणात्मक व्यवस्था से और उस शोषण के हालात के अन्तर्गत भारतीय समाज के भीतर उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक शक्तियों तथा भारतीय समाज के सामाजिक अन्तर्विरोधों ने राष्ट्रवाद के विकास को गति प्रदान की। यह ठीक है कि अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य ब्रिटिश प्रशासन और व्यापारिक फर्मों में लिपिकों की आवश्यकता, भारतीयों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण करके करना था, जो कि रक्त और रंग में भारतीय किन्तु बृद्वि भावनाओं और आचार–विचार में अंग्रेज हों।[3] अग्रेजी के प्रचार प्रसार ने सांस्कृतिक आदान प्रदान के जिस स्वरूप को तैयार किया उसी वजह से ट्रेवेलियन ने यूरोप के एशिया को सभ्यता के पुराने ऋण का भुगतान करने तक की बात कह डाली।[4] अंग्रेजी शिक्षा पढ़ें लिखे वर्ग में भारतीय समाज में व्याप्त सती प्रथा की तरह अनेकानेक कुरीतियों के विरूद्ध सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन का जो दौर प्रारम्भ हुआ, उसने भारत की

प्राचीन धार्मिक चेतना को राष्ट्रवाद की जागृति का प्रमुख स्तम्भ तो बनाया ही साथ ही धार्मिक आन्दोलनों को राष्ट्रवाद के परिणाम के रूप में चिन्हित कर दिया, चाहे कालान्तर में या धार्मिक आन्दोलन राष्ट्रवाद के विकास के कारण के रूप में उभर कर सामने आये। यूरोप के बुद्धिवाद, भारत की पराधीनता की पीढ़ा और राजनीति एवं अर्थ से हटकर भारतीय पद्धति के मूल तत्वों पर यूरोपीय सभ्यता के आक्रमण ने भारतीय अस्मिता को हिलाकर कर ही रख दिया, जहां सांस्कृतिक विचारधारात्मक संघर्ष आरम्भ हुआ और जिसके मूल में औपनिवेशिक वर्चस्व स्थापन और परम्परागत व्यवस्था के बीच संघर्ष होना था। जिस बौद्धिक नव निर्माण को लेकर पश्चिमी संस्कृति द्वारा चुनौती दी जा रही थी, उससे तो ऐसा लग रहा था कि भारतीय परम्परा का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। परन्तु आधुनिकता का अर्थ अतीत को ठुकराना भी नहीं था, क्योंकि परम्परा आधुनिकता को हासिल करने के लिए एक शक्तिशाली हथियार का काम कर रही थी।[5] जिन क्षेत्रों में औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रयत्न का तत्काल जवाब आया वह था सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलन। औपनिवेशिक काल में भारतीय राजनीति और धर्मसुधार आन्दोलन से जुड़े प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों ने जिस प्रकार राष्ट्रवाद के लिए आध्यात्मिक आधार को स्वीकार किया, उसके पीछे सबसे बड़े कारण भारतीय राष्ट्रवाद का विचित्र रूपों में विकसित होना और राष्ट्रवादी नेताओं की अपनी परम्परागत मूलतः आध्यात्मिक प्रवृत्ति थी और यही कारण 19वीं शताब्दी के प्रबुद्धवादियों की विशेष रूचि में दिखाई देता है, जहाँ वे भौतिकवाद और बुद्धिवाद में रूचि प्रदर्शित कर रहे थे। इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि धार्मिक आन्दोलन उनके प्रमुख नेताओं के योगदान से पृथक नहीं थे, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में धार्मिक आन्दोलनों की परिवर्तनशील और बहुपक्षीय भूमिका का निर्वहन किया था और जो कालान्तर में अपने प्रमुख नेताओं के अवसान के बाद या तो अपनी चमक–धमक को खो चुके थे और या फिर यह आन्दोलन न रहकर मात्र सम्प्रदाय रह गये, जिसके सकारात्मक और नकारात्मक परिणाम सामने आये। किन्तु इससे धर्म एवं समाज सुधान आन्दोलनों की राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता और यह बात तब और भी अधिक प्रासंगिक हो जाती है, जब हम राष्ट्रवाद की पहचान को अपनी साक्षी विरासत के सकारात्मक पक्षों के प्रति सामुदायिक आत्मसजगता के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन की राष्ट्रवादिता पर उस दृष्टि से भी संदेह नहीं किया जा सकता चाहे उसका सारोकार राजनैतिक स्वतंत्रता से न भी हो । इसके मूल में राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति के क्षेत्र की व्यापकता है, जो कि उसे राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक ही नहीं अपितु मनोवैज्ञानिक दायरे की ओर भी ले जाती है। इसी आलोक में प्रस्तुत शोध पत्र में धर्मसुधार आन्दोलनों से जुड़े उन बिन्दुओं को राष्ट्रवाद के संदर्भ में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में खोजने का प्रयास किया जायेगा, जो कि क्षेत्रीय क्रम में तो उठे परन्तु जिन्होंने अपने व्यापक अर्थों में राष्ट्रीय स्तर को छू लिया।

हिन्दू धर्म में आई बुराईयों की निन्दा, यूरोपीय क्रान्तिकारी विचार एवं भारतीय अस्मिता पर उठे प्रश्नों ने उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिक जगत को जिस प्रकार झकझोर कर रख दिया,

उससे राजा राममोहन राय, देवेन्द्र नाथ, केशव चन्द्र सेन, गोविन्द रानाडे, तेलंग, चन्दावरकर, दयानन्द सरस्वती, ऐनी बेसेण्ट, भगवान दास, रामकृष्ण परम हंस, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द घोष आदि सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के लिए बिगुल फूकने वाली विभूतियाँ अस्तित्व में आई, जिन्होंने उन क्षेत्रों पर प्रहार किया जो कि औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रयत्न का तत्काल प्रत्युत्तर था और जहॉ धर्म, समाज और शिक्षा महत्वपूर्ण बिन्दु थे। इन प्रमुख धर्म सुधारकों ने इन बिन्दुओं को जिस रूप में देखा उसने कहीं ना कहीं इन आन्दोलनों को राष्ट्रवादी प्रवृत्ति की गति से जोड़ दिया। राजा राममोहन राय द्वारा तत्कालीन भारतीय समाज और धर्म पर की गई टिप्पणी से इसका संकेत मिलता है, जहाँ वे यह कहते नजर आते हैं कि मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि धर्म के वर्तमान ढाँचे ने हिन्दुओं को इतनी बुरी तरह जकड़ रखा है कि उनके राजनीतिक हितों के विषय में कुछ भी नहीं किया जा सकता। जातिभेद और जातीय अभिमान ने उन्हें अनगिनत वर्गों और उपवर्गो में विभक्त कर दिया है और इसी कारण उनमें देश प्रेम की भावना ही पूरी तरह समाप्त हो गई है। धार्मिक रीति–रिवाजों, समारोहों तथा शुद्धिकरण के नियमों ने उन्हें इस तरह जकड़ रक्खा है कि वे कोई जोखिम उठाने योग्य नहीं रह गये हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में अब सबसे आवश्यक यही हो गया है कि हिन्दू धर्म के स्वरूप में कुछ परिवर्तन लाये जायें, जिससे कि कम से कम हिन्दुओं के राजनीतिक और सामाजिक जीवन के लिये कुछ किया जा सके।[6] राजा राममोहन राय यह जान चुके थे कि धार्मिक आस्थाओं और सामाजिक व्यवहारों के बीच अंतः सम्बन्ध के कारण के लिये पहल धार्मिक सुधार से ही करनी होगी जिसका कारण भारतीयों के जीवन के प्रत्येक पहलू में धर्म की दखलन्दाजी थी और जो सीधे यह संकेत दे रहा था कि धर्म पर पकड़ बनाये बिना किसी तरह का समाज सुधार नहीं हो सकता। राजा राममोहन राय के नेतृत्व में बह्म समाज के सिद्धान्त और कार्य सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का आरम्भ था तो राजनीतिक राष्ट्रीयता इसका ही विकसित रूप था। यह ठीक है कि सती प्रथा पर जो प्रश्न उठे, वह अपने प्रारम्भिक रूप में बंगाल तक ही सीमित थे किन्तु जिस प्रकार यह प्रश्न बुद्धिजीवियों की आम चिन्ता का हिस्सा बना उसने इसे राष्ट्रीय बहस का हिस्सा बना दिया। इसी प्रकार विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा पर छिड़ी बहस ने भी विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा के प्रश्न को राजनीतिक बहस का स्वरूप प्रदान कर दिया। हिन्दू विधवाओं के विवाह के प्रश्न पर राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्रविद्या सागर, सूबाजी बापू आदि जो तर्क प्रस्तुत कर रहे थे वे न कहीं स्त्री शिक्षा और शास्त्रों की हिमायत से जुड़े थे।[7] हिन्दू पैरियट ने तो स्त्री और स्त्रियों के बीच ज्ञान के प्रसार के साथ ही विधवा विवाह की हिमाकत की।[8] लैक्स लोकी कानून जिस प्रकार 1851 में स्वीकार किया गया, उसने बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क को मथकर रख दिया।[9] देवेन्द्र नाथ के समय में बह्म समाज की राष्ट्रीयता की प्रतिबद्धता पर ही प्रश्न खड़ा हो गया और यह आरोप लगाया कि बह्म समाज हिन्दू समाज को एक साथ ईसायत में मिश्रित करने का आयोजन है, जिसके पीछे केशव चन्द्र सेन की ईसा और ईसाई धर्म के प्रति अगाध निष्ठा और प्रेम को उत्तरदायी माना जाता है। परन्तु यदि ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाय तो वैज्ञानिक दृष्टि, समाजवाद और धर्म निरपेक्षतावाद के उन आदर्शो के बीज उनमें दिखाई देते है जहाँ वे यह कहते

नजर आते कि ईश्वर के पितृत्व में विश्वास करना, मनुष्य के बंधुत्व में विश्वास करना है। जो भी अपने मन में, अपने घर में, ईश्वर से प्रार्थना करता है उसे अपने हमवतनों को भाईयों के रूप में जानना चाहिये। जब समाज ऐसी स्थिति में होगा तो जातिवाद स्वतः समाप्त हो जायेगा।[10] इतना ही नही केशव ने किसान और काश्तकार के हितों की कवायद करते हुए मैन आफ कान्सीक्वैन्सेज नामक निबन्ध में आह्वान किया कि किसान और काश्तकार अपने ऊपर होने वाले दमन और अपमान को रोके, जागे, समय आ गया है अब अधिक न सोये। सर्वहारा वर्ग यह भी निश्चित कर ले कि गैर कानूनी हरकतें किये बिना जमींदारों को होश में लाये। आपके पाास चेतना है, समझ है, अपने जोर को अपनाओ, ताकत लगाओ और अपने ज्ञान को हासिल करो।[11] केशव का यह लेख कहीं न कहीं औपनिवेशिक शासन में ब्रिटिश अर्थनीति से उत्पन्न आर्थिक असन्तोष, जो कि किसान पर विशेष निषेधात्मक प्रभाव डाल चुका था के प्रति एक आह्वान था, जहाँ हमें एक प्रकार से पूँजीवाद व्यवस्था का विरोध या सर्वहारा वर्ग के हितों से सम्बन्धित प्रश्नों को उठाने की कवायद दिखाई देती है। केशव चन्द्र सेन के बह्म समाज के प्रभाव से हि प्रार्थना समाज तो अस्तित्व में आया परन्तु उसमें न तो बह्म समाजियों जैसी कटरता थी, न ही पाश्चात्य सभ्यता के प्रति विशेष ललक और न ही आर्य समाजियों की तरह वैदिक आदर्शो के प्रति निष्ठा। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से प्रार्थना समाज का एकेश्वरवाद इसका सकारात्मक पहलू है। रानाडे ने ईश्वर के प्रति आस्था को भारतीय राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्व के रूप में जिस प्रकार रेखांकित किया वह आने वाले समाज सुधार आन्दोलनों के लिये एक दार्शनिक आधारशिला बना। मानवता के प्रमुख समर्थक रानाडे ने धर्म की व्याख्या सह अस्तित्व और मानवतावाद से जोड़कर ही नहीं कि बल्कि अर्थव्यवस्था को भी साकार चित्रित करते हुए जिस प्रकार कांग्रेस के मंच पर उठाया[12], वह भंडारकर तेलंग और चन्दावरकर के लिए आधार बना। यह ठीक है कि प्रार्थना समाज संगठन का रूप धारणा न कर पाया परन्तु प्रार्थना समाज की भी कतिपय सीमायें थीं। जहाँ तक आर्य समाज का प्रश्न है दयानन्द सरस्पती ने आर्य समाज की स्थापना कर वैदिक शिक्षा को आधार मानते हुए हिन्दू धर्म के शुद्धिकरण का जो मार्ग आरम्भ किया वह वैदिक धर्म में आई कुरीतियों को दूर कर वैदिक धर्म का परिमार्जन करने तक सीमित था, जहाँ उन्होंने मूर्ति पूजा, अवतारवाद, देवतर्पण और फलित ज्योतिष का जबरदस्त खण्डन करते हुए हिन्दू धर्म को नये रूप में परिभाषित कर नव जीवन प्रदान किया।[13] दयानन्द ने स्पष्ट कर दिया कि ब्राह्मण होने योग्य वह है जिसने बेहतरीन ज्ञान और चरित्र हासिल किया हो, अज्ञानी व्यक्ति शूद्र की श्रेणी में रखने योग्य है।[14] अपनी उग्र और आक्रामक विचारधारा के कारण आर्य समाज को राष्ट्रवाद के विकास में बाधा उत्पन्न करने वाले जैसे आरोपों से भी घिरना पड़ा। यदि इस आरोप को स्वीकार कर लिया जाता है तो प्रश्न उठता है कि नार्थ ब्रुक ने दयानन्द को क्यों विद्रोही फकीर कहा[15] और वैलेन्टाइल शिरोल ने आर्य समाज को ब्रिटिश शासन विरोधी राजनैतिक आन्दोलन की संज्ञा क्यों दी?[16] वास्तव में आर्य समाज को ब्रिटिश शासन का समर्थक मान लेना उसके भारत के पुनर्जागरण में योगदान को ही नकार देना है। आर्य समाज के सिद्धान्तों और कार्यो की कुछ सीमायें थी और यही सीमायें उसकी आलोचना का आधार स्तम्भ बनी। धर्म सुधार आन्दोलनों की कढ़ी में

थियोसोफिकल सोसायटी की जहाँ तक बात आती है उसका मुख्य उद्देश्य जाति, उपजाति, रंग, धर्म के भेदभाव को मिटाकर विश्व व्यापक भातृत्व के भाव को उत्पन्न कर सभी धर्मो के प्रति सहिष्णु व्यवहार और समान तत्वों के आधार पर समन्वय स्थापित कर मनुष्य और प्रकृति गूढ रहस्यों और शक्तियों का स्पष्टीकरण करना था।[17] ऐनी बेसेण्ट ने साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठाने की जो वकालत की, वह भारतीय राष्ट्रवाद की दृष्टि से निःसन्देह महत्वपूर्ण था। यह ठीक है कि थिसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों ओल्काट और मैडम ब्लैवत्सकी की भी आलोचना हुई।[18] जब ब्रहमसमाजी ईसाई धर्म की सहायता से हिन्दू धर्म का शुद्धिकरण कर रहे थे तब ऐनी बेसेण्ट ने हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता का नारा बुलन्द कर प्रत्येक राष्ट्र को अपने विकास हेतु स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय लेने की स्वतन्त्रता की बात कही।[19] ऐनी बेसण्ट ने राजनैतिक क्षेत्र में कदम बढ़ाते हुए होमरूल आन्दोलन ही नहीं चलाया अपितु गरम व नरम दल को एक करने का प्रयास किया। गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के पीछे उनकी अपनी धारणायें थीं, परन्तु जिस प्रकार गांधी जी ने उनकी मृत्यु पर श्रृद्धांजलि देते हुए स्वीकार किया कि उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमिमानकर अपना सब कुछ समर्पित कर दिया था, वे भारतीयों की श्रद्धेय हो गई।[20] भगवान दास ने भी स्वतन्त्रता की आवश्यकता को एक अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्रदान किया।[21] कुल मिलाकर भगवान दास को छोड़कर थियोसोफिकल सोसायटी से जुड़े महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने विदेशी होते हुए भी जिस प्रकार भारतीय संस्कृति की महानता को सिद्ध करने का प्रयास उस समय विशेष में किया था, वह राष्ट्रवाद के विकास की दृष्टि से अद्वितीय ही कहा जायेगा। रामकृष्ण ने जाति विभाजन को आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर व्यर्थ कहा। उनका अनुभूति पर आधारित सर्वधर्म समभाव भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिये अहम् था, जहाँ वे यह प्रार्थना करते हुए दिखाई देते हैं कि माँ मेरे मन से इस विचार को निकाल दे कि मैं बड़ा हूँ कि वे नीच हैं, अछूत हैं, क्योंकि वे तेरे विभिन्न रूपों के अतिरिक्त कौन है ?[22] विवेकानन्द जिनके चिन्तन का उपयोग स्वतन्त्रता के पश्चात् भी राष्ट्रवाद के विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है, रामकृष्ण की अनुभूतियों से निष्पन्न होने वाली शिक्षाओं का उपयोग मात्र था।[23] निःसन्देह विवेकानन्द राष्ट्रवाद के ऐसी अवधारणा तक पहुँच सके थे जो कि हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं था। रामतीर्थ का राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे सभी धर्मों सम्प्रदायों और समुदायों के योग से राष्ट्र की शक्ति का आह्वान करते नजर आते हैं।[24] अरविन्द का जातिवाद का राष्ट्रवादी चिन्तन[25], राष्ट्र के प्रति भावात्मक लगाव, बौद्धिकता, आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, परम्परा के प्रति आकर्षण तथा राजनीतिक जीवन का अनुभव ऐसे तत्व थे जिनका प्रभाव अरविन्द के राष्ट्रवादी चिन्तन में स्पष्ट परिलक्षित होता है।[26]

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलनों और राष्ट्रवाद को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में खोजने पर तीन प्रमुख तथ्य सामने आते हैं। प्रथम–धार्मिक आन्दोलनो ने सामानयतः जिस राष्ट्रवाद को विकसित किया, वह उदार और सहिष्णु तो था ही साथ ही इसमें कतिपय अन्य प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान थीं। द्वितीय– धार्मिक आन्दोलन एकदम आरम्भ में राष्ट्रवाद के परिणाम थे किन्तु कालान्तर में यह इसके विकास के कारण बनें, जहाँ पुनरूत्थान अतीत से अपनी

 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

सारी सम्बद्धता होते हुए भी हिन्दू धर्म को नई आवश्यकताओं और चुनौतियों के अनुरूप ढालने में कटिबद्ध था। यह राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास ही तो था। परन्तु जब धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दुओं में पर्याप्त राष्ट्रवाद को बल दिया तो राष्ट्रवादी प्रवृत्ति हिन्दुओं तक कैसे रह सकती थी ? तब यह अपेक्षा की गई कि यह साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर भारतीय राष्ट्रवाद के रूप में परिवर्तित हो जायेगी किन्तु यहीं पर धार्मिक आन्दोलन अवरोधक बन गये। तृतीय– सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलनो ने तभी तक अपनी जीवन्तता को बनाये रक्खा जब तक कि वे राजनीतिक संघर्षों से शक्ति प्राप्त कर रहे थे। 1919 के बाद तो उपनिवेश विरोधी राजनैतिक आन्दोलन पूर्णतया हावी हो गया और संस्कृति तथा राजनीतिक संघर्षो का एकीकरण न होकर राजनीति में संस्कृति का अतिक्रमण हो गया, जिसकी परिणिति भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में बाधक बनी, जहाँ हमें तिलक के गणेश उत्सव, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा की गतिविधियों के नकारात्मक परिणाम दिखाई देते है। संभवतः यह सब राजनीति और सांस्कृतिक संघर्षों के बीच एकीकरण व तालमेल न होने का नतीजा ही था। फलस्वरूप जहाँ एक ओर राजनीतिक चेतना तो विकसित होती रही परन्तु सांस्कृतिक पिछड़ापन यथावत् बना रहा, जिसकी छाप समकालीन भारत में भी सांस्कृतिक स्थितियों में खोजी जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. कान, हैन्स, *आइडिया आफ नेशनलिज्म,* न्यूयार्क, 1945, पृ0 **4**
2. देसाई, ए0आर0, *सोशियल बैकग्राउन्ड आफ इंडियन नेशनलिज्म,* देहली, 1977, पृ0, **3–4**
3. दत्त, रजनी पाम, इण्डिया टुडे, बम्बई, 1949, पृ0, **2–3**
4. ट्रेवेलियन, *दि एजूकेशन ऑफ दि पीपुल ऑफ इंडिया,* 1938,पृ0, **168**
5. पणिक्कर, के0 एन0, संस्कृति, *चेतना,* विचारधारा एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, दिल्ली, 1999, पृ0, **1**
6. हीमसैथ, चार्ल्स. एच., *इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशियल रिफोर्म,* प्रिन्सिटकन, 1964, पृ0, **100–150**
7. बाम्बे दर्पण, अंक–8, सितम्बर, 1837
8. पैरियट, फरवरी, 1853
9. मेहरोत्रा, एस0आर0, इमर्जेन्स ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस, पृ0, **58**
10. बसु, पी0एस0, *लाईफ एंड वर्क्स आफ ब्रह्मानन्द केशव,* कलकत्ता, 1940, पृ0, **125**
11. पूर्वोक्त
12. पर्वते, टी0वी0, *महादेव गोविन्द रानाडे,* बम्बई, 1963, पृ0,**175**
13. bf.M; u fj Q}wIII&7,जुलाई, 2007, ग्रेसवाल्ड, दि रिलीजियस कन्टैस्ट ऑफ इंडिया, लन्दन, 1923
14. सरस्वती, दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, दिल्ली, वि0सं0, 2014, पृ0, **250**

15. शास्त्री, रामगोपाल, *महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा,* देहली, 1967, पृ0, **5**
16. शिरोल, वैलेण्टाइल, इण्डियन अनरेस्ट, लन्दन, 1910, पृ0,**111**
17. बेसेण्ट ऐनी, *थियोसोफी एण्ड दि थियोसोफिकल सोसाइटी,* मद्रास, 1913
18. फरक्यूहार, जे0 एन0, माडर्न रिलीजियम मूवमेण्ट इन इण्डिया, रिप्रिन्ट, देहली, 1967, पृ0, **211–220**
19. बेसेण्ट, ऐनी, *इण्डिया बांड आर फ्री?* ए वर्ल्ड प्राब्लम, लन्दन, 1996 पृ0,**163**
20. ईश्वर, दत्त, के0, कांग्रेस इनसाइक्लोपीडिया, पृ0,**316**
21. दास, भगवान, *एशेन्सियल यूनिटी ऑफ आल रिलीजन्स,* बम्बई, 1960,पृ0,**17**
22. मैक्समूलर, राममोहन टू रामकृष्ण कलकत्ता, 1952,पृ0,**116**
23. दि कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, भाग–1, कलकत्ता, 1957 पृ0, **140**
24. इन्दुप्रकाश निबन्ध सं0 2, अगस्त 1893, इन्दुप्रकाश निबन्ध संख्या 5,7, अक्टूबर, 1893, दि कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी रामतीर्थ, भाग–6, लखनऊ, 1951, पृ0, **70**
25. घोष, अरविन्द, *भारते जातीय आन्दोलन,*संस्करण 1, पाण्डेचेरी पृष्ठ,**12**
26. घोष, अरविन्द, *दि डॉक्ट्रिन ऑफ पेसिव रेसिस्टैंस,* कलकत्ता, 1948, पृ0,**48**